

प्रेमचन्द का उपन्यास 'कर्मभूमि' और 'दलित-चेतना'

डॉ. रविन्द्र गासो

शोध-सारांश:

हिन्दी में 'दलित-चेतना' का साहित्य 1975 ई. के बाद प्रस्फुटित हुआ और बीसवीं शताब्दी के अन्तिम दो दशकों में सुस्थापित हुआ। दलित-चिन्तक हिन्दी समाज और साहित्य के इतिहास की पुनर्व्याख्या और पुनर्लेखन का एजेण्डा लेकर चल रहे हैं।

वर्ण/जाति की संरचना में शूद्रों की अस्पृश्यता और अपवर्जन की स्थिति के विरुद्ध उसके (जाति/वर्ण के) समूल नाश का एजेण्डा 'दलित-चेतना' है। 'अस्मिता', 'समता', 'स्वतन्त्रता', 'बन्धुत्व' को स्थापित करने के उद्देश्य से यह चेतना दलितों के अपवर्जन, उत्पीड़न, शोषण, अपमान, अन्याय का स्वानुभूत यथार्थ-चित्रण करती है।

प्रेमचन्द (1880 ई. - 1936 ई.) हिन्दी कथा साहित्य के सर्वोत्कृष्ट रचनाकार हैं। नवाबराय के नाम से उर्दू में एक दर्जन के करीब उपन्यास और दर्जनों कहानियों का लेखन करने के उपरान्त प्रेमचन्द के नाम से आपने हिन्दी में एक दर्जन के करीब बाकमाल उपन्यास और 300 से ऊपर बेमिसाल कहानियां लिखीं। बड़ी संख्या में जीवन्त, गतिमान, निबन्ध-लेखन द्वारा प्रेमचन्द ने हिन्दी गद्य को समृद्ध किया।

दलित-विमर्श की दृष्टि से प्रेमचन्द का 1932 ई. में छपा उपन्यास 'कर्मभूमि' महत्त्वपूर्ण कृति है। आदर्शवादी-गांधीवादी दृष्टि से शहर और गांव में दलितों, स्त्री तथा किसानों की समस्या को उठाया गया है।

हिन्दी की प्रगतिवादी धारा 'अछूतों' की गुलामी के प्रति सच्ची, सहृदय, सहानुभूति रखती थी, उन्हें सर्वहारा वर्गों की बुनियाद मानती थी लेकिन उनकी रचनाओं में 'वर्ण/जाति' से उनकी मुक्ति के संघर्ष का कोई उल्लेख अलग से नहीं मिलता। 'सर्वहारा' शोषित मजदूर-किसान की मुक्ति में ही 'अछूतों' और स्त्री की मुक्ति का संकल्प समाहित था। कुल मिलाकर प्रगतिवादी-विचारक 'वर्ग-चेतना' के आधार पर आर्थिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक जन-क्रान्ति में ही 'अछूतों' की मुक्ति का स्वप्न देखते थे जबकि 'दलितों' को 'जाति' के कारण सर्वहारा-वर्ग में भी अलगाव, अपमान और अलग तरह के शोषण का शिकार होना पड़ता है।

सभी सवर्ण लेखकों की भांति प्रेमचन्द 'दलित-मुक्ति आंदोलन' के सन्दर्भ में नहीं सोच रहे थे। अम्बेडकर-फुले दर्शन की आधारभूमि पर दलितों का आन्दोलन जिस 'दलित-चेतना' का निर्माण करता है, 'कर्मभूमि' उसे अभिव्यक्त नहीं कर पाया।

मूल शब्द: 'दलित-चेतना', प्रेमचन्द, कर्मभूमि, हिन्दी साहित्य

Correspondent author

एसोसिएट प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, डी.ए.वी. कॉलेज, पूण्डरी (कैथल) कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र, ई.मेल: gassoravinder@gmail.com मो.: 94161-10679.

मूल आलेख

प्रेमचन्द (1880-1936 ई.) का उपन्यास 'कर्मभूमि' 1932 ई. में दलित विमर्श और दलित जीवन-यथार्थ को बृहद सामाजिक-ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने वाला हिन्दी का प्रथम उपन्यास है।

हिन्दी में 'दलित-चेतना' का साहित्य 1975 ई. के बाद प्रस्फुटित हुआ और बीसवीं शताब्दी के अन्तिम दो दशकों में सुस्थापित हुआ। दलित-चिन्तक हिन्दी समाज और साहित्य के इतिहास की पुनर्व्याख्या और पुनर्लेखन का एजेण्डा लेकर चल रहे हैं।

वर्ण/जाति की संरचना में शूद्रों की अस्पृश्यता और अपवर्जन की स्थिति के विरुद्ध उसके (जाति/वर्ण के) समूल नाश का एजेण्डा 'दलित-चेतना' है। 'अस्मिता', 'समता', 'स्वतन्त्रता', 'बन्धुत्व' को स्थापित करने के उद्देश्य से यह चेतना दलितों के अपवर्जन, उत्पीड़न, शोषण, अपमान, अन्याय का स्वानुभूत यथार्थ-चित्रण करती है।

'दलित' की अवधारणा को विद्वानों ने स्पष्ट किया है -

डॉ. सोहनपाल सुमनाक्षर ने इसी संदर्भ में कहा है - "वैसे तो 'दलित' शब्द का प्रचलन बहुत पहले से था, पर 1932 के पूना-पैक्ट के बाद 'अछूतों' के लिए जहां गांधी जी 'हरिजन' शब्द का इस्तेमाल करते थे, बाबा साहब डॉ. अम्बेडकर 'दलित' शब्द का इस्तेमाल करते थे।"¹

डॉ. ए. अच्युतन - "दलित शब्द आज अपने आप में एक 'संस्कृति' का परिचायक बन गया है। यह दलितों के सत्व बोध का परिचायक शब्द है, जिसे उच्च वर्ग के लोगों ने दस्यु, राक्षस, अवर्ण, निषाद, पंचमर, चण्डाल और अंग्रेजों ने डिप्रेस्ड क्लास, गांधी जी ने हरिजन, भारतीय संविधान के अनुसूचित जाति-जनजाति आदि पर्यायों से विभूषित किया। अपनी सांस्कृतिक अभिव्यक्ति दलितों का जन्म सिद्ध अधिकार है। यह संस्कृति मल्टी कलचरल है और इस संस्कृति का अन्य समान सांस्कृतिक इकाईयों से भी सम्बन्ध है (इन्टर और क्रास कलचरल)।"²

कंवल भारती स्पष्ट करते हैं कि "वास्तव में 'दलित' वही व्यक्ति हो सकता है, जो सामाजिक तथा आर्थिक, दोनों दृष्टियों से दीन-हीन है। जिन पर अस्पृश्यता का नियम लागू किया गया, जिसे कठोर और गन्दे कर्म करने के लिए बाध्य किया गया, जिसे शिक्षा ग्रहण करने और स्वतन्त्र व्यवसाय करने से मना किया गया और जिस पर सछूतों ने सामाजिक निर्योग्यताओं की संहिता लागू की, वही और सिर्फ वही दलित है।"³

आधुनिक काल में दलित-मुक्ति आंदोलन से पैदा हुई 'दलित-अस्मिता' ही 'दलित-चेतना' का मूल है। यह चेतना 'सहानुभूति' के साहित्य को दलित साहित्य नहीं मानती। 'स्वानुभूति' दलित साहित्य का आधार-बिन्दू है। इसका कारण बताते हुए हम डॉ. विवेक कुमार का कथन उद्धृत कर सकते हैं- "दलित-अस्मिता' के सृजन में जहां जन्मना लांछन एवं अपवर्जन के खिलाफ संघर्ष है, वहीं सामाजिक एवं धार्मिक आधार पर पूर्व में स्थापित अस्मिताओं को खण्डित करने का भी प्रयास है।"⁴

दलित-विमर्श के लिहाज से हिन्दी उपन्यास साहित्य पर दृष्टिपात करते हुए कहा जा सकता है कि दलित-अस्मिता, दावेदारी, जाति-विहीन समाज-निर्माण के आंदोलन तथा अम्बेडकर-फुले दर्शन के निष्कर्षो-निष्पत्तियों के समवेत प्रभाव व आशय हिन्दी उपन्यास में अभी तक पूर्णतः सम्बोधित नहीं हो पाए। यह एक बड़ा प्रश्न है तथा भारतीय नवजागरण के अधूरेपन में भी इसका उत्तर मौजूद है। नवजागरण में दलितों के प्रश्न कमोवेश असम्बोधित रहे। अंग्रेज शासकों की नीतियों के कारण तथा इस काल की स्थितियों में पुनरुत्थानवादी रुझान से जो साम्प्रदायिक धुवीकरण हुआ तथा धर्म-सम्प्रदायों में विद्वेषपूर्ण स्पर्धा तेज़ हुई उसने महात्मा गांधी तथा अन्य चिन्तकों द्वारा चलाए जा रहे सुधारवादी-आदर्शवाद के 'उदार-अभियानों के सारतत्त्व' को खत्म करने में कोई कसर बाकी नहीं रखी। जाति-पांति का सृष्टीकरण इसी दौर में हुआ लेकिन इसी दौर के हालात दलितों के प्रति नरम व मानवीय व्यवहार के लिए सवर्ण समाज को बाध्य कर रहे थे। हिन्दी साहित्य पर इस दौर में सर्वाधिक शक्तिशाली प्रभाव गांधी जी का तथा दूसरा मार्क्सवादी दर्शन का रहा। अधिकांश हिन्दी लेखकों ने दलितों के प्रति अमानवीय व्यवहारों पर तो कमोवेश लिखा लेकिन उनकी दुर्गति के मूल आधार 'जाति-वर्ण-व्यवस्था' पर कभी उंगली नहीं उठाई। वे केवल भेद पर ही अटके रहे, उसके मूल तक नहीं गये। 'जाति-उन्मूलन' न तो गांधी का एजेण्डा था और न ही मार्क्सवादियों या अन्य का। दलितों के सबलीकरण की बात भी आजादी के बाद शुरू हुई, वह भी अनेक अन्तर्विरोधों से लबरेज़।

हिन्दी उपन्यासों में दलितों के नारकीय जीवन के जो चित्र हैं वे मानवीय, संवेदना-युक्त तथा आदर्शवादी-सुधारात्मक सदाशयता लिए हैं। वे छुआछूत पर, गरीबी पर, अमानवीयता पर, ब्राह्मणवादी तथाकथित पवित्रता पर, पाखण्डों-अन्धविश्वासों पर, शोषण पर, कट्टरता पर, भेदभाव पर, परम्पराओं पर प्रश्नचिह्न तो लगाते हैं परन्तु जाति-व्यवस्था पर कोई प्रश्न नहीं खड़ा करते। यहीं पर दलित चेतना की दृष्टि से हिन्दी उपन्यासों की सीमाओं का पता चलता है। हिन्दी उपन्यासकार की जीवन-दृष्टि व्यवस्था में कम या अधिक परिवर्तन की रही, उसे समूल बदलने की नहीं। लेखकों के सवर्ण संस्कार, हिन्दी पट्टी की विशेष सांस्कृतिक स्थितियां, कमजोर दलित-आंदोलन, राजनीति, समाज का साम्प्रदायिक धुवीकरण, अम्बेडकर-दर्शन से अनभिज्ञता, उत्तर भारत के धार्मिक- सामाजिक-राजनीतिक आंदोलनों में दलित नेतृत्व का अभाव तथा साहित्य में वर्चस्वशाली वर्गों का आधिपत्य आदि ऐसे अनेक कारणों से दलित-मुक्ति के वास्तविक व आधारभूत प्रश्नों को हिन्दी उपन्यास में स्थान नहीं मिल सका। मध्य-वर्ग उपन्यास की सामग्री, कर्त्ता तथा पाठक तीनों रहा। हिन्दी कथा-साहित्य में मध्यवर्गीय समस्याओं व जीवन-स्थितियों की प्रचुरता रही। प्रगतिवादी साहित्य में वर्ग-भेद, शोषण, संघर्ष व चेतना का स्वर प्रमुख रहा। अन्तर्जातीय सम्बन्धों, अन्तर्जातीय विवाह आदि को भी विषय बनाया गया लेकिन जाति-व्यवस्था को चुनौती देने वाले स्वर जिनमें मूलभूत सवालों के प्रति वांछित गंभीरता व गहराई हो लगभग नदारद ही रहे।

हिन्दी में जिन उपन्यासों में दलितों/दलितों की जीवन स्थितियों का कमोवेश वर्णन हुआ उनकी संख्या पचास के लगभग है। इनमें भी पूर्णतः दलित विषयक उपन्यास आधे भी नहीं। दलित-चेतना सम्पन्न दृष्टिकोण से तो कोई भी उपन्यास सवर्ण-लेखक नहीं लिख पाये। दलित-विषयक तथा दलित-चेतना सम्पन्न उपन्यास में अन्तर है।

प्रेमचन्द की औपन्यासिक चेतना:

प्रेमचन्द (1880 ई. - 1936 ई.) हिन्दी कथा साहित्य के सर्वोत्कृष्ट रचनाकार हैं। नवाबराय के नाम से उर्दू में एक दर्जन के करीब उपन्यास और दर्जनों कहानियों का लेखन करने के उपरान्त प्रेमचन्द के नाम से हिन्दी में एक दर्जन के करीब बाकमाल उपन्यास और 300 से ऊपर बेमिसाल कहानियां लिखीं। बड़ी संख्या में जीवन्त, गतिमान, निबन्ध-लेखन द्वारा प्रेमचन्द ने हिन्दी गद्य को समृद्ध किया। आजादी के 75 वर्ष बाद भी प्रेमचन्द हिन्दी के सबसे अधिक पढ़े जाने वाले लोकप्रिय और अत्यन्त प्रासंगिक साहित्यकार हैं। आपको 'कथा सम्राट', 'उपन्यास सम्राट' का खिताब पाने का गौरव प्राप्त हुआ। महानतम प्रेमचन्द के बारे में सव्यसाची का कथन है -

“आज प्रेमचन्द युग की ओर नज़र डालें तो प्रेमचन्द एक ऐसे ज्योति-पुंज के रूप में नज़र आते हैं जिनसे आज हिन्दी कथा-साहित्य का पूरा रास्ता रोशन हो रहा है, उस रोशनी में हमें न सिर्फ आगे का रास्ता नज़र आता है बल्कि उनके अपने जमाने का पूरा इतिहास, पूरा समाज स्पष्ट होता है। वह युग, उसके राजनीतिक उतार-चढ़ाव, जनता के विभिन्न वर्गों के चेहरे, उन चेहरों का भीतर-बाहर सभी कुछ हमारे सामने मूर्त हो उठता है। यही विशेषता उन्हें न केवल एक विशिष्ट कथाकार बल्कि युग-पुरुष भी बनाती है। [5]’

प्रेमचन्द ने हिन्दी साहित्य को यथार्थवाद-प्रगतिवाद का विशाल व सुदृढ़ आधार दिया। प्रेमचन्द जनता के लेखक हैं, भारतीय जनता की आकांक्षाओं, जन-संघर्षों को उन्होंने न केवल बेमिसाल कथा-विन्यास द्वारा अभिव्यक्ति दी बल्कि इन्सानी जीवन के सकारात्मक पक्षों-चरित्रों को उभारकर जनता के सामने रखा। उनकी कहानियां, उपन्यास और निबन्ध विश्व साहित्य में हिन्दी भाषा और साहित्य का परचम सर्वोच्च शिखर पर फहरा रहे हैं। सव्यसाची ने उचित ही कहा है कि -

“प्रेमचन्द के साहित्य का मूल्यांकन राष्ट्रीय आंदोलन के इतिहास के अध्ययन के बिना सम्भव नहीं है। तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक परिस्थितियों, विभिन्न आंदोलनों, उनका चरित्र, राष्ट्रीय पूंजीवाद का विकास और पूंजीवादी नेतृत्व की राष्ट्रीय आंदोलन में भूमिका आदि का अध्ययन ही हमें प्रेमचन्द साहित्य के समग्र मूल्यांकन का आधार प्रदान कर सकता है। [6]

‘दलित चेतना के दृष्टिकोण से ‘कर्मभूमि का मूल्यांकन-विश्लेषण:-

दलित-विमर्श की दृष्टि से प्रेमचंद का 1932 ई. में छपा उपन्यास ‘कर्मभूमि’ महत्त्वपूर्ण कृति है। आदर्शवादी-गांधीवादी दृष्टि से शहर और गांव में दलितों, स्त्री तथा किसानों की समस्या को उठाया गया है। ‘दलित’ शब्द का प्रयोग (पृ. 120) भी इस उपन्यास में है लेकिन डॉ. अम्बेडकर के नाम का जिक्र तक नहीं। शहर में अस्पृश्यों के मंदिर प्रवेश, म्युनिसिपलिटी से गरीब दलितों के मकानों के लिए जमीन उपलब्ध करवाने तथा गांव में गरीब किसानों की लगान-माफी के लिए आंदोलन होता है। दोनों जगह गरीबों की शिक्षा के लिए स्वयंसेवी पाठशाला भी कार्य करती है। आंदोलन खड़ा करने तथा उसे तार्किक परिणति तक ले जाने का कार्य अमरकान्त उसकी मित्र-मण्डली व परिवार के लोग करते हैं। अमरकान्त लेखक का ही प्रतिरूप है। अमरकान्त सेठ अमरकान्त का लड़का है। उसकी बहन नैना, पत्नी सुखदा, सास

रेणुका देवी, पिता, यूनिवर्सिटी का शिक्षक डॉ. शान्ति कुमार (ऑक्सफोर्ड में पढ़ा), दोस्त सलीम, प्रेयसी सकीना, सकीना की दादी पठानिन, गोरे सिपाहियों के बलात्कार का बदला लेने वाली मुन्नी नेतृत्वकारी भूमिका में है। मुख्य द्वन्द्व धन लिप्सा तथा मानवीयता का है। अमरकान्त पिता से विद्रोही है। इस विद्रोह में जन-शिक्षा के लिए पाठशाला चलाना, कांग्रेस के जलसों में भाषण देना तथा नौजवान सभा का कार्य आदि शामिल हैं। पिता व पत्नी उसे बार-बार संभालने और सुख भोग को बाध्य करते हैं। पत्नी में सेवा, श्रद्धा, देवत्व, हृदय का अनुराग, आत्म-समर्पण, आत्म-त्याग, आदर्शवाद, ममत्व आदि का अभाव उसे सकीना की ओर ले जाता है। सकीना से प्रेम जग-जाहिर होने पर वह काशी छोड़ गांव-गांव घूमता आखिर हरिद्वार के पास चमारों के छोटे से गांव में रहने लगा। वहां चमारों को पढ़ाने, उनकी बुराईयों जैसे नशा करना, मृत पशु (गाय) का मांस खाना तथा गंदगी आदि को दूर करने का कार्य करता है।

इधर पत्नी सुखदा अस्पृश्यों के मंदिर प्रवेश के लिए आंदोलन करती है। दलितों का खून बहता है, फिर सफलता भी मिली। डॉ. शान्ति कुमार के सेवाश्रम के लिए सुखदा की मां रेणुका देवी तीन लाख रुपये दान देती है तथा एक ट्रस्ट बनता है। इसी बीच शहर की तीन चौथाई आबादी गरीब दलितों के लिए मकान बनाने की योजना सुखदा द्वारा पेश की जाती है। कमेटी से जमीन की बात चलती है। कमेटी के सदस्य हाऊसिंग स्कीम की सारी जमीन अपने-अपने नाम करा लेते हैं। गरीबों के लिए जमीन का आंदोलन चलता है, हड़ताल होती है, टूट जाती है। फिर से उठे आंदोलन में एक ही दिन में सुखदा, लाला, समरकान्त, रेणुका देवी, पठानिन, डॉ. शान्ति कुमार गिरफ्तार हो जाते हैं। आखिर नैना मोर्चा संभालती है तथा हजारों गरीबों का नेतृत्व करते हुए म्यूनिसिपल कमेटी की मीटिंग का घेराव करने निकलती है। रास्ते में पति लाला मनिराम उसे गोली मार देता है। नैना की मौत से मीटिंग में खलबली। उसका ससुर (लाला धनीराम) जो कमेटी का सदस्य है तथा अब तक जमीन देने का विरोधी था, इस तरह अपना सब कुछ खोकर मीटिंग से बाहर आ जाता है। तमाम सदस्य भीड़ के सामने गरीबों को जमीन देने पर सहमति जताते हैं।

दूसरी ओर गांवां में लगान-माफी आंदोलन है। वहां इलाके के जमींदार महंत आशाराम गिरि गरीब किसानों के शोषण पर ऐश कर रहा है। मंदी के कारण किसान लगान देने में असमर्थ हैं, पेट के लिए अनाज तक नहीं, लगान कहां से दें। जन-आन्दोलन तथा सरकारी जुल्म का विस्तृत वर्णन है। अनेक लोग मारे जाते हैं। आखिर अंग्रेज गवर्नर सेठ धनीराम की मध्यस्थता से गिरफ्तार लोगों को छोड़ने और अमरकान्त व सलीम को पंच सदस्यीय कमेटी बनाकर किसानों सम्बन्धी प्रस्ताव देने व उस पर अमल करने के लिए सहमत हो जाता है।

अवान्तर कथा मुन्नी की है जो गोरे सिपाहियों के दुष्कर्म का शिकार होती है। फिर पागलों की तरह घूमती एक दिन दो गोरों को छुरे से मार देती है। मुकद्दमे में डॉ. शान्ति कुमार, रेणुका देवी, सुखदा तथा सारा शहर उसकी पैरवी करता है। भारतीय नारी की अस्मिता का प्रतीक होने के कारण वह बरी होकर अपने पति व छोटे बालक के साथ न जाकर हरिद्वार के पास चमारों के गांव में आ टिकती है। वहीं यहाँ अमरकान्त पहुंचता है।

दलितों का मन्दिर प्रवेश, शिक्षा, आवास, जमींदारों का शोषण आदि प्रमुख रूप से उपन्यास में वर्णित है। सवाल यह है कि किस वैचारिक व मानसिक भाव-भूमि से लेखक संचालित है।

मन्दिर प्रवेश प्रसंग में ठाकुरद्वारे में कथा सुनने के लिए दरवाजे के पास (जूतियों के पास) दलितों को बैठा देख, धर्म के ठेकेदार पण्डित-सेठ उन्हें मारते हैं, गालियां देते हैं। डॉ. शान्ति कुमार दलितों के पक्ष में मोर्चा सम्भालते हैं। वे नौजवान सभा के सदस्यों को साथ लेकर दलितों के लिए कथा कहते हैं, मन्दिर के सामने 'कुर्त्ता-धोती पहने, माथे पर चन्दन का तिलक, गले में चादर व्यास के छोटे भाई से लग रहे थे।' कथा में महात्मा गांधी के चरित्र का बखान था। मन और कर्म की शुद्धता ही उसके लिए ऊँच-नीच का मापदण्ड है। आत्मोन्नति के मार्ग पर चलने वाले ही पवित्र और सुन्दर हैं। शान्ति कुमार दलितों से कह रहा था - "क्या तुम ईश्वर के घर से गुलामी का बीड़ा लेकर आये हो? तुम तन-मन से दूसरों की सेवा करते हो, पर तुम गुलाम हो। तुम्हारा समाज में कोई स्थान नहीं। तुम समाज की बुनियाद हो। तुम्हारे ही ऊपर समाज खड़ा है, पर तुम अछूत हो, तुम मन्दिर में नहीं जा सकते। ऐसी अनीति इस अभागे देश के सिवाय और कहां हो सकती है? क्या तुम सदैव इसी भांति पतित और दलित बने रहना चाहते हो?"⁷

वह दलितों से कहता है कि चाहे गोलियां चलें, मन्दिर के द्वार से न हटें क्योंकि धर्म की बात है, और धर्म हमें जान से भी प्यारा होता है। वह पाखण्डी पुजारियों और सवर्णों को कोसते हुए प्रश्न करता है कि "क्या यह लोग हिन्दू संस्कारों को नहीं मानते? फिर आपने मन्दिर का द्वार क्यों बंद कर रखा है?"⁸ समरकान्त व एक अन्य ब्रह्मचारी डॉ. शान्ति कुमार का सिर फोड़ देते हैं। समर कान्त पुलिस बुला लेता है। सुखदा गोलियां चलते देख द्रवित होकर दलितों के पक्ष में आ जाती है तथा मरते/मार खा रहे दलितों को ठाकुर जी के लिए, धर्म के लिए ललकारती है। लार्शें बिछी हैं। सुखदा अटल है। प्रेमचन्द की यहां टिप्पणी है - "हरेक स्त्री और पुरुष, चाहे वह कितना ही मूर्ख क्यों न हो, समझने लगा था कि हम अपने धर्म और हक के लिए लड़ रहे हैं और धर्म के लिए प्राण देना अछूत-नीति में भी उतनी ही गौरव की बात है, जितनी द्विज नीति में।"⁹ आत्मोसर्ग की यह भावना पुलिस के हथियार गिरा देती है। मन्दिर खुल गया। दलित 'उन्मत्त होकर सुखदा के पैरों पर गिर पड़ते हैं और तब मन्दिर की तरफ दौड़ते हैं।' फिर अपने प्रियजनों की (धर्म विजेयताओं) की अर्थियां लेकर गंगा तट की ओर चले, हिन्दू समाज उन पर फूलों की वर्षा कर रहा था, वही हिन्दू समाज जो एक घण्टा पहले इन अछूतों से घृणा करता था, "बलिदान में कितनी शक्ति है?"

दूसरे दिन मन्दिर में भक्तां का तांता लगा रहा। ब्रह्मचारी को 'जितनी दक्षिणा आज मिली, उतनी शायद उम्र भर में न मिली होगी।' इससे उसके मन का विद्रोह कुछ शान्त हो गया, किन्तु ऊँची जाति वाले सज्जन अब भी मन्दिर में देह बचाकर जाते और नाक सिकोड़े हुए कतरा कर निकल जाते थे।¹⁰

डॉ. अम्बेडकर ने 1927 से 1932 के बीच अमरावती में अम्बादेवी मन्दिर प्रवेश तथा नासिक में कालाराम मन्दिर प्रवेश जैसे आंदोलन चलाए, जिनका उद्देश्य धर्म की शरण में जाना नहीं था, बल्कि वे दलित दावेदारी, "हमें यह दिखाना है कि हम भी दूसरों जैसे ही इन्सान हैं" के विचार से संचालित थे। बाद में डॉ. अम्बेडकर ने सवर्णों की संस्कृति व संस्कारों में जाति-भेद की कभी न बदलने वाली स्थितियों को देखकर तथा दलित-दासत्व से मुक्ति के लिए इस रास्ते की अपर्याप्तता व दिशा-भ्रम को समझते हुए 'मन्दिर-प्रवेश' जैसे कार्यक्रमों को 'फिजूल' बताया। 1932 में हुआ 'पूना पैक्ट' महात्मा गांधी को अस्पृश्यता के विरुद्ध आन्दोलन के लिए मजबूर करता है। प्रेमचंद का यह दलितोद्धार गांधी जी के इसी

आन्दोलन से प्रेरित है, जिसमें 'दलित-दावेदारी' का सवाल नहीं बल्कि 'हिन्दू धर्म' की पाखण्डियों से मुक्ति तथा उसकी रक्षा का सवाल प्रमुख है। वर्ण/जाति व्यवस्था को समाप्त करने की नहीं, उसे उदार बनाने की बात है।

नैना दलितों के प्रदर्शन का नेतृत्व करती हजारों लोगों से ऊँची स्वर में यह गीत बुलवा रही है (यह गीत इस आन्दोलन का प्रमुख गीत था) -

“हम भी मानव तन धारी हैं ...

क्यों हमको नीच समझते हो?

क्यों अपने सच्चे दासों पर

इतना अन्याय बरतते हो?”¹¹

भुक्तभोगी और सहानुभूति तथा दलित, गैर-दलित नेतृत्व में दरअसल यही अन्तर है। अस्पृश्यों को मुक्ति 'दासत्व के सच्चेपन' को सवर्णों का सम्मान दिलाने या उदार मानवीय व्यवहार से नहीं मिलेगी। दलित-मुक्ति 'दासत्व' के तमाम रूपों के सम्पूर्ण त्याग तथा वर्ण-व्यवस्था के सम्पूर्ण विनाश में है, जो किन्हीं लोगों या किसी वर्ग को शूद्र बनाती है।

उपन्यास में मृत गाय का मांस खाने से अमर चमारों को रोक देता है, शराबखोरी से भी। उन्हें साफ सुथरे रहने की सीख देता है। पण्डित के मदरसे में उनके बच्चों को 'चमार-चमार' कह कर सवर्ण बच्चे चिढ़ाते हैं। अमर अछूत बच्चों की पाठशाला खोलता है। उन्हें नई-शिक्षा, विचारों और नई दुनिया से वाकिफ करवाता है लेकिन क्या उनके प्रति आज भी सवर्णों की भेद-नीति में कोई फर्क आया है। जाति-जनित अपमान के रूप बदले हैं, स्वभाव या प्रकृति नहीं। उपन्यास में जो गांव है उसमें दलित-सवर्ण आबादी की अन्तर्क्रियाएं, अन्तर्सम्बन्ध कहीं नहीं दिखाये गये, अन्तर्विरोध कहां से आते? भारतीय समाज में जाति-व्यवस्था की गुम्फित तस्वीर यथार्थ पेशकारी का हिस्सा नहीं बनती।

अमर जाति-पाति नहीं मानता। उसके लिए आदमी का सच्चा होना आदर की वस्तु है, जाति नहीं। वह सकीना के लिए मुसलमान बनने का राज़ी है क्योंकि वह समझता है कि हिन्दू धर्म की तरह इस्लाम भी सेवा, त्याग, दया, आत्मशुद्धि की बुनियाद पर कायम है। वह जानता है कि चीन में बौद्ध धर्म के अनुयायी जानवर को मारना पाप समझते हैं, इसलिए वे मरे जानवर खाते हैं। कुत्ते, बिल्ली, गीदड़ किसी को भी नहीं छोड़ते, हमारे ब्राह्मण भी मांस खाते हैं। जीभ के स्वाद के लिए जीव की हत्या करते हैं। लेकिन वह अपने वैष्णव संस्कारों के कारण मृत गाय का मांस खाने को पिशाच-कर्म समझता है। यह द्वन्द्व असल में गांधी युग व विचारों के हैं। विचारों का संश्लेषण संस्कारों से टकरा रहा है।

प्रेमचन्द धर्म के आडम्बर को उघाड़ते हैं। जमींदार महंत आशाराम गिरी के बेहिसाब ताम-झाम, धार्मिकता के चोले में भोग-विलास तथा पण्डे-पुजारियों के चरित्र को गरीबों की जिन्दगी की तुलना में दिखाकर उसका खण्डन किया गया है। ईश्वर, पुनर्जन्म, कर्मफल आदि दलित विरोधी दर्शन को भी लेखक ने कई प्रसंगों में इंगित किया है। दलित-

हड़ताल का विचार उस जमाने में गल्प का हिस्सा बनना बहुत बड़ी बात थी। लेकिन सारी कवायद तब निष्फल हो जाती है जब लेखक और उपन्यास का नायक व अन्य प्रमुख पात्र 'ईश्वर', 'धर्म', 'धार्मिक हिन्दु जातीयता', 'जाति-उत्थान' के चक्कर में पड़े दिखाई देते हैं। 'आत्मशुद्धि' की अवधारणा सामाजिक संश्लेषण से रोकती है। 'सामाजिक संरचना' के निर्मम-कुत्सित आधारों पर चोट किए बिना 'आत्मशुद्धि' ठीक उसी तरह है जिस तरह कि घाव की मवाद निकाले बिना उसकी मरहम-पट्टी करना। बीमारी की जड़, उसके मूल पर चोट नहीं करेंगे तो वह फिर फूटती है। अमरकान्त एक उपन्यास में राजस्थान की सतियों की 'अमरकथा' पढ़कर बलिहारी जा रहा है। मुन्नी जब गोरों की हत्या से बरी होकर निकलती है तो सेवा-समिति के युवक केसरिया बाना तथा राष्ट्रीय सभा के सेवक खाकी वर्दियां पहने, झण्डियां लिए जुलूस के लिए तैयार थे। समतावादी समाज का यह कौन-सा नक्शा है? धार्मिक-जातिगत पहचानों ने ही तो दलितों की गुलामी के इतिहास लिखे हैं तथा साम्प्रदायिकता के लिए खाद-पानी का काम किया है। इस धार्मिक-मॉडल में दलितों की मुक्ति असंभव है, स्त्रियों की भी। यह प्रश्न भी ऐतिहासिक महत्त्व का है कि लेखक डॉ. अम्बेडकर का नाम नहीं लेना चाहता। ठीक इसी तरह नौजवान सभा का तो नाम है लेकिन शहीद भगत सिंह का नाम प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं में कहीं नहीं लिया। नौजवान सभा भी यहां भगत सिंह वाली नहीं है।

हिन्दी आलोचकों द्वारा 'कर्मभूमि' की समीक्षा:-

'दलित-चेतना' के दृष्टिकोण से 'कर्मभूमि' के विश्लेषण के उपरान्त हिन्दी के सुविख्यात आलोचकों की इस उपन्यास के बारे में समझ को देखना भी उपयोगी रहेगा। हिन्दी की प्रगतिवादी धारा 'अछूतों' की गुलामी के प्रति सच्ची, सहृदय, सहानुभूति रखती थी, उन्हें सर्वहारा वर्गों की बुनियाद मानती थी लेकिन उनकी रचनाओं में 'वर्ण/जाति' से उनकी मुक्ति के संघर्ष का कोई उल्लेख अलग से नहीं मिलता। 'सर्वहारा' शोषित मजदूर-किसान की मुक्ति में ही 'अछूतों' और स्त्री की मुक्ति का संकल्प समाहित था। कुल मिलाकर प्रगतिवादी-विचारक 'वर्ग-चेतना' के आधार पर आर्थिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक जन-क्रान्ति में ही 'अछूतों' की मुक्ति का स्वप्न देखते थे जबकि 'दलितों' को 'जाति' के कारण सर्वहारा-वर्ग में भी अलगाव, अपमान और अलग तरह के शोषण का शिकार होना पड़ता है।

डॉ. रमेश कुन्तल मेघ अपने लेख 'आधुनिक राष्ट्रीय इतिहास के चरण तथा प्रेमचन्द के विश्लेषणात्मक औपन्यासिक मॉडल' में लिखते हैं -

“इस उपन्यास के मॉडल में गांव तथा शहर के दो सहवर्ती केन्द्र गुत्थम-गुत्था हैं क्योंकि अब स्वतन्त्रता आन्दोलन शहरों से गांवों के छोरों तक फैल रहा है। दोनों केन्द्रों में गरीब, अछूत क्रान्तिकारी वर्गों में बुनियादी बन जाते हैं, दोनों केन्द्रों में नौजवान (छात्र) मजदूरों और किसानों के साथ एकजुट होकर साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष तेज करते हैं। दोनों केन्द्रों में नारियों के क्रान्तिकारी उद्धार का रास्ता भी नायिकाओं द्वारा सही तथा सच्चा सिद्ध किया जाता है। ... दोनों केन्द्रों में एक ओर हिन्द-मस्लिम एकता है तो दूसरी ओर अछूतों की मुक्ति की तलाश है।”¹²

मुरली मनोहर प्रसाद सिंह अपने लेख 'स्वाधीनता आंदोलन और प्रेमचन्द की चेतना का विकास' में कहते हैं कि "सामन्तवाद विरोधी जुझारू जन आन्दोलन की यह सिफारिश (शोषण व अत्याचार की शिकार रैदास किसानों को किसान सभा की बैठक में स्वामी आत्मानन्द (किसान नेता) कहते हैं कि आओ हम सब चल कर महन्त जी का मकान और ठाकुर द्वारा घेर लें और जब तक वह लगान बिल्कुल न छोड़ दें, कोई उत्सव न होने दें।) बतलाती है कि प्रेमचन्द गांधीवादी रास्ते से भारत के उत्पीड़ित जनगण की मुक्ति सम्भव नहीं मानते थे। 'कर्मभूमि' के रचनाकाल तक आते-आते प्रेमचन्द गांधी जी के प्रति अपनी निष्ठा खो चुके थे।"13

डॉ. रामविलास शर्मा लिखते हैं कि हिन्दी कथा-साहित्य में 'अछूतों' की दशा का मार्मिक चित्र, उनके जीवन की बुनियादी समस्याओं की झांकी पहले (पहली बार) 'कर्मभूमि' में मिलती है। जाति-व्यवस्था में एक ही वर्ग के किसान जाति की ऊंच-नीच में बंटे हैं। ऊंची जाति के किसान शोषक महन्त के साथ सहानुभूति रखते हैं। अछूतों को अपने ही समकक्ष ऊंची जाति के किसानों को प्रसन्न करना पड़ता है (बेगारादि द्वारा)। इसी सन्दर्भ में डॉ. शर्मा लिखते हैं - "ये अछूत दुहरी-तिहरी गुलामी के नीचे पिस रहे थे। सबसे ऊपर अंग्रेज थे, उनके नीचे ज़मींदार महन्त और उनके नीचे ऊंची जाति के लोग।"14

निष्कर्ष

'दलित-चेतना' के सैद्धान्तिक-वैचारिक आधारों, ऐतिहासिक सन्दर्भों को देखने के बाद, दलित विमर्श के लिहाज से सवर्ण लेखकों के 'दलित-विषयक' उपन्यासों का मूल्यांकन करने के बाद, प्रेमचन्द की औपन्यासिक चेतना के प्रमुख बिन्दुओं पर विद्वानों के सारगर्भित निष्कर्षों की संक्षिप्त चर्चा के बाद हमने इस शोध-आलेख में 'दलित-चेतना' के दृष्टिकोण से 'कर्मभूमि' का मूल्यांकन-विश्लेषण किया है। लेकिन क्योंकि 'कर्मभूमि' हिन्दी का बहुत ही महत्त्वपूर्ण उपन्यास है, इसलिए यह जानना भी अनिवार्य है कि हिन्दी आलोचना में इस उपन्यास की परख-पड़ताल क्या कहती है? इस तमाम खोज-संश्लेषण से निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि सभी सवर्ण लेखकों की भांति प्रेमचन्द 'दलित-मुक्ति आंदोलन' के सन्दर्भ में नहीं सोच रहे थे। अम्बेडकर-फुले दर्शन की आधारभूमि पर दलितों का आन्दोलन जिस 'दलित-चेतना' का निर्माण करता है, 'कर्मभूमि' उसे अभिव्यक्त नहीं कर पाया। 'दलित-दावेदारी, दलित-अस्मिता, दलित-प्रतिरोध के तमाम प्रश्न अछूते रहे। वर्ण/जाति की संरचना में शूद्रों की अमानवीय अस्पृश्यता और क्रूर अपवर्जन की स्थिति के विरुद्ध जाति/वर्ण के समूल नाश का एजेण्डा प्रेमचन्द की तमाम सदाशयता, संचेतना के बावजूद 'कर्मभूमि' का एजेण्डा नहीं है। बेशक प्रेमचन्द के युगीन सन्दर्भों में उनसे यह अपेक्षा करना अतिवाद ही लग सकता है लेकिन 'दलित-मुक्ति चेतना' सम्पन्न आन्दोलन साहित्य-इतिहास के पुनर्लेखन-पुनर्मूल्यांकन की जो मांग कर रहा है, वह पूर्णतः तार्किक है और अनिवार्य भी।

संदर्भ -

- 1.सुमनाक्षर; सोहनपाल (1999) विश्व धरातल पर दलित साहित्य; भारतीय दलित साहित्य अकादमी, दिल्ली; प्रथम संस्करण; पृ. 84
- 2.अच्युतन; ए.(2002) 'केरल का दलित साहित्य: एक विश्लेषण'; दलित साहित्य (वार्षिकी) सं. जय प्रकाश कर्दम; ; पृ. 87-88
- 3.भारती; कंवल(2006) दलित साहित्य की अवधारणा; बोधिसत्व प्रकाशन, रामपुर (उ.प्र.); प्रथम संस्करण पृ. 15
- 4.कुमार; विवेक(2004) अम्बेडकरवादी लेखक का काव्य शास्त्र (लेख); अपेक्षा (पत्रिका) सं. तेज सिंह; अंक जुलाई-सितम्बर पृ. 21
- 5.उत्तरगाथा (त्रैमासिक) ; अंक 6-7, जनवरी 1981; मथुरा; सम्पादकीय; पृ. प्प्
- 6.वही; पृ. ग्
- 7.प्रेमचंद; कर्मभूमि; पृ. 120
- 8.उपर्युक्त; पृ. 122
- 9.उपर्युक्त; पृ. 124
- 10.उपर्युक्त; पृ. 125
- 11.उपर्युक्त; पृ. 222
12. वही (उत्तरगाथा) ; पृ. 143
- 13.वही; पृ. 157
- 14.डॉ. रामविलास शर्मा; प्रेमचन्द और उनका युग; राजकमल प्रकाशन, दिल्ली; पाँचवां संस्करण 1989;पृ. 88